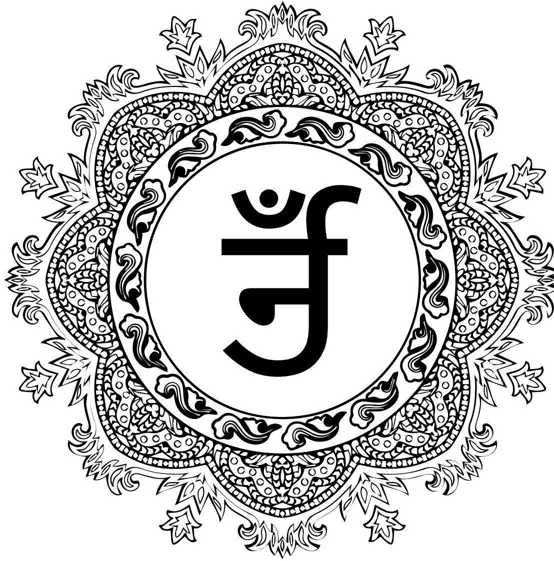


बारसणुपेक्खा

आचार्य श्री कुन्दकुन्द



बारसणुपेक्खा

आचार्य श्री कुन्दकुन्द

ॐ

॥ श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः ॥

आचार्य श्री कुन्दकुन्द

प्रणीत

बारसणुपेक्खा

(द्वादशानुप्रेक्षा)

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण सव्वसिद्धे, झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो व जिणे, दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥1॥

अन्वयार्थ- जिन्होंने उत्तम ध्यान के द्वारा दीर्घ संसार का नाश कर दिया है ऐसे समस्त सिद्धों तथा चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार कर बारह अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा ॥१॥

बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥2॥

अन्वयार्थ- अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना चाहिए ॥२॥

अध्रुव अनुप्रेक्षा का स्वरूप

वरभवणजाणवाहणसयणासणदेवमणुवरायाणं।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥3॥

अन्वयार्थ- उत्तम भवन, यान, वाहन, शयन, आसन, देव, मनुष्य, राजा, माता, पिता, कुटुंबी और सेवक आदि सभी अनित्य तथा पृथक् हो जाने वाले हैं ॥३॥

संयोग नश्वर है

सामग्गिंदियरूवं, आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं, सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥4॥

अन्वयार्थ- सब प्रकार की सामग्री- परिग्रह, इंद्रियाँ, रूप, नीरोगिता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और सौंदर्य ये सब इंद्रधनुष्य के समान/शाश्वत रहने वाले नहीं हैं अर्थात् नश्वर हैं ॥४॥

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरूचिघणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाहिं, बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥5॥

अन्वयार्थ- अहमिंद्र के पद और बलदेव आदि की पर्यायें जल के बबूले, इंद्रधनुष्य, बिजली और मेघ की शोभा के समान/स्थिर रहने वाली नहीं हैं ॥५॥

जीवणिबद्धं देहं, खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥6॥

अन्वयार्थ- जब दूध और पानी की तरह जीव के साथ मिला हुआ शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है तब भोगोपभोग का कारणभूत द्रव्य-स्त्री आदि परिकर नित्य कैसे हो सकता है? ॥६॥

परमट्ठेण दु आदा, देवासुरमणुवरायविभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा, सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥7॥

अन्वयार्थ- परमार्थ से आत्मा देव, असुर और नरेंद्रों के वैभवों से भिन्न है और वह आत्मा शाश्वत है ऐसा निरंतर चिंतन करना चाहिए ॥७॥

अशरणानुप्रेक्षा

मणिमंतोसहरक्खा, हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं, तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥8॥

अन्वयार्थ- मरण के समय तीनों लोकों में मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ और समस्त विद्याएँ जीवों के लिए शरण नहीं हैं अर्थात् मरण से बचाने में समर्थ नहीं हैं ॥८॥

सग्गो हवे हि दुग्गं, भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो, इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥9॥

अन्वयार्थ- स्वर्ग ही जिसका किला है, देव सेवक हैं, वज्र शस्त्र है और ऐरावत गजराज है उस इंद्र का भी कोई शरण नहीं है- उसे भी मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं है ॥९॥

णवणिहि चउदहरयणं, हयमत्तगइंदचाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं, पेच्छंतो कद्दये काले ॥10॥

अन्वयार्थ- नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मत्त हाथी और चतुरंगिणी सेना चक्रवर्ती के लिए शरण नहीं हैं। देखते-देखते काल उसे नष्ट कर देता है ॥१०॥

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं, बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥11॥

अन्वयार्थ- जिस कारण आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करता है उस कारण बंध उदय और सत्तारूप अवस्था को प्राप्त कर्मों से पृथक् रहनेवाला आत्मा ही शरण है आत्मा की निष्कर्म अवस्था ही उसे जन्म जरा आदि से बचाने वाली है ॥११॥

अरूहा सिद्धायरिया, उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं ॥12॥

अन्वयार्थ- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। चूँकि ये परमेष्ठी भी आत्मा में निवास करते हैं अर्थात् आत्मा स्वयं पंच परमेष्ठीरूप परिणमन करता है इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है ॥१२॥

सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं ॥13॥

अन्वयार्थ- चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों भी आत्मा में स्थित हैं इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है ॥१३॥

एकत्वानुप्रेक्षा

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥14॥

अन्वयार्थ- जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्म का फल भोगता है ॥१४॥

एक्को करेदि पावं, विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरिएसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥15॥

अन्वयार्थ- विषयों के निमित्त तीव्र लोभ से जीव अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यंच गति में अकेला ही उसका फल भोगता है ॥१५॥

एक्को करेदि पुण्णं, धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥16॥

अन्वयार्थ- धर्म के निमित्त पात्रदान के द्वारा जीव अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवों में अकेला ही उसका फल भोगता है ॥१६॥

पात्र के तीन भेदों तथा अपात्र का वर्णन

उत्तमपत्तं भणियं, सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ॥17॥
णिद्दिट्ठो जिणसमये, अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥18॥

अन्वयार्थ- सम्यक्त्वरूप गुण से युक्त साधु को उत्तम पात्र कहा गया है, सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिए, जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से रहित है वह अपात्र है। इस प्रकार पात्र और अपात्र की परीक्षा करनी चाहिए ॥१७-१८॥

दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥19॥

अन्वयार्थ- जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य का मोक्ष नहीं होता। जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो (पुनः चारित्र के धारण करने पर) सिद्ध हो जाते हैं, परंतु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते ॥१९॥

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो, णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ॥20॥

अन्वयार्थ- मैं अकेला हूँ, ममत्व से रहित हूँ, शुद्ध हूँ तथा ज्ञान-दर्शनरूप लक्षण से युक्त हूँ इसलिए शुद्ध एकत्वभाव ही उपादेय है- ग्रहण करने के योग्य है। इस प्रकार संयमी साधु को सदा विचार करते रहना चाहिए ॥२०॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो, णियकज्जवसेण वट्टंति ॥21॥

अन्वयार्थ- माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बंधुजनों-

इष्ट जनों का समूह जीव से संबंध रखने वाला नहीं है। ये सब अपने कार्य के वश साथ रहते हैं ॥२१॥

अण्णो अण्णं सोयदि, मदो वि मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि, संसारमहण्णवे बुड्ढं ॥22॥

अन्वयार्थ- यह मेरा स्वामी था, यह मर गया इस प्रकार मानता हुआ अन्य जीव अन्य जीव के प्रति शोक करता है परंतु संसाररूपी महासागर में डूबते हुए अपने आपके प्रति शोक नहीं करता ॥२२॥

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥23॥

अन्वयार्थ- यह जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान दर्शन ही आत्मा है अर्थात् ज्ञान दर्शन ही मेरे हैं। इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिंतन करो ॥२३॥

संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे, जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं ॥24॥

अन्वयार्थ- जिन भगवान के द्वारा प्रणीत मार्ग की प्रतीति को नहीं करता हुआ जीव, चिरकाल से जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से परिपूर्ण पाँच प्रकार के संसार में परिभ्रमण करता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन ही पाँच प्रकार का संसार कहलाते हैं ॥२४॥

द्रव्यपरिवर्तन का स्वरूप

सव्वे वि पोग्गला खलु, एगे भुत्तुज्झिया हि जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो, पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥25॥

अन्वयार्थ- पुद्गलपरिवर्तन (द्रव्यपरिवर्तन) रूप संसार में इस जीव ने अकेले ही समस्त पुद्गलों को अनंत बार भोगकर छोड़ दिया है ॥२५॥

क्षेत्रपरिवर्तन का स्वरूप

सव्वम्हि लोयखेत्ते, कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो, परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥26॥

अन्वयार्थ- समस्त लोकरूपी क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रम से उत्पन्न न हुआ हो। समस्त अवगाहनाओं के द्वारा इस जीव ने क्षेत्र संसार में अनेक बार भ्रमण किया है ॥२६॥

कालपरिवर्तन का स्वरूप

अवसप्पिणिउवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो, परिभमिदो कालसंसारे ॥27॥

अन्वयार्थ- यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की समस्त समयावलियों में उत्पन्न हुआ है तथा मरा है। इस तरह इसने काल संसार में अनेक बार परिभ्रमण किया है ॥२७॥

भवपरिवर्तन का स्वरूप

णिरयाउजहण्णादिसु, जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु, बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥28॥

अन्वयार्थ- मिथ्यात्व के आश्रय से इस जीव ने नरक की जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक की भवस्थिति को धारण कर अनेक बार भ्रमण किया है ॥२८॥

भावपरिवर्तन का स्वरूप

सव्वे पयडिट्ठिदिओ, अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा, भमिदो पुण भावसंसारे ॥29॥

अन्वयार्थ- इस जीव ने मिथ्यात्व के वश समस्त कर्मप्रकृतियों की सब स्थितियों, सब अनुभागबंधस्थानों और सब प्रदेशबंध स्थानों को प्राप्त कर बार-बार भाव संसार में परिभ्रमण किया है ॥२९॥

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे ॥30॥

अन्वयार्थ- जो जीव पुत्र तथा स्त्री के निमित्त पापबुद्धि से धन कमाता है और दयादान का परित्याग करता है वह संसार में भ्रमण करता है ॥३०॥

मम पुत्तं मम भज्जा, मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं, पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥31॥

अन्वयार्थ- जो जीव, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धनधान्य है इस प्रकार की तीव्र आकांक्षा से धर्मबुद्धि को छोड़ता है वह पीछे दीर्घ संसार में पड़ता है ॥३१॥

मिच्छोदयेण जीवो, णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं, मण्णंतो भमदि संसारे ॥32॥

अन्वयार्थ- मिथ्यात्व के उदय से यह जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित धर्म की निंदा करता हुआ तथा कुलिंग और कुतीर्थ को मानता हुआ संसार में भ्रमण करता है ॥३२॥

हंतूण जीवरासिं, महुमंसं सेविऊण सुरयाणं।
परदव्वपरकलत्तं, गहिऊण य भमदि संसारे ॥33॥

अन्वयार्थ- जीवराशि का घात कर, मधु मांस और मदिरा का सेवन कर तथा परद्रव्य और परस्त्री को ग्रहण कर यह जीव संसार में भ्रमण करता है ॥३३॥

जत्तेण कुणइ पावं, विसयणिमित्तिं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहियो, तेण दु परिपडदि संसारे ॥34॥

अन्वयार्थ- मोहरूपी अंधकार से सहित जीव विषयों के निमित्त यत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसार में पड़ता है ॥३४॥

णिच्चिदरधादुसत्तय, तरूदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो, चौद्दस मणुए सदसहस्सा ॥35॥

अन्वयार्थ- नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक इन छह प्रकार के जीवों में प्रत्येक की सात सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायिक की दस लाख, विकलेंद्रियों की छह लाख, देव, नारकी तथा पंचेंद्रिय तिर्यंचों में प्रत्येक की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं। इनमें संसारी जीव भ्रमण करता है ॥३५॥

संजोगविप्पजोगं, लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं, होदि हु माणं तहावमाणं च ॥36॥

अन्वयार्थ- संसार में जीवों को संयोग वियोग, लाभ अलाभ, सुख दुःख तथा मान अपमान प्राप्त होते हैं॥३६॥

कम्मणिमित्तं जीवो, हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारो, णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को ॥37॥

अन्वयार्थ- कर्मों के निमित्त से यह जीव संसाररूपी भयानक वन में भ्रमण करता है, किंतु निश्चय नय से जीव कर्मों से रहित है इसलिए उसका संसार भी नहीं है ॥३७॥

संसारमदिक्कंतो, जीवोवादेयमिति विचिंतेज्जो।
संसारदुहक्कंतो, जीवो सो हेयमिति विचिंतेज्जो ॥38॥

अन्वयार्थ- संसार से छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिए और संसार के दुःखों से आक्रांत जीव छोड़ने योग्य हैं ऐसा चिंतन करना चाहिए ॥३८॥

लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं, समवाओ सो णिरूच्चए लोगो।
तिविहो हवेइ लोगो, अहमज्झिमउड्ढभेएण ॥39॥

अन्वयार्थ- जीव आदि पदार्थों का जो समूह है वह लोक कहा जाता है। अधोलोक, मध्यमलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक तीन प्रकार का होता है ॥३९॥

णिरया हवंति हेट्ठा, मज्झे दीवंबुरासयो संखा।
सग्गो तिसट्ठिभेओ, एत्तो उड्ढो हवे मोक्खो ॥40॥

अन्वयार्थ- नीचे नरक है, मध्य में असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं ऊपर त्रेसठ भेदों से युक्त स्वर्ग हैं और इनके ऊपर मोक्ष है ॥४०॥

स्वर्ग के त्रेसठ भेदों का वर्णन

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
तित्तिय एक्केंकेंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी ॥41॥

अन्वयार्थ- सौधर्म और ऐशान कल्प में इकतीस, सनत्कुमार और माहेंद्र कल्प में सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प में चार, लांतव और कापिष्ठ कल्प में दो, शुक्र और महाशुक्र कल्प में एक, शतार और सहस्रार कल्प में एक तथा आनत प्राणत और अच्युत इन चार अंत के कल्पों में छह इस तरह सोलह कल्पों में कुल ५२ पटल हैं। इनके आगे अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकों के त्रिक में प्रत्येक के तीन अर्थात् नौ ग्रैवेयकों के नौ, अनुदिशों का एक और अनुत्तर विमानों का एक पटल है। इस तरह सब मिलाकर ऋतु आदि त्रेसठ पटल हैं ॥४१॥

असुहेण णिरयतिरियं, सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं, एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥42॥

अन्वयार्थ- अशुभोपयोग से नरक और तिर्यंच गति प्राप्त होती है, शुभोपयोग से देव और मनुष्यगति का सुख मिलता है और शुद्धोपयोग से जीव मुक्ति को प्राप्त होता है- इस प्रकार लोक का विचार करना चाहिए ॥४२॥

अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिबद्धं, मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं ॥43॥

अन्वयार्थ- यह शरीर हड्डियों से बना है, मांस से लिपटा है, चर्म से आच्छादित है, कीटसंकुलों से भरा है और सदा मलिन रहता है ॥

दुग्गंध बीभच्छं, कलिमलभरिंद अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं, देहं इदि चिंतए णिच्चं ॥44॥

अन्वयार्थ- यह शरीर दुर्गंध से युक्त है, घृणित है, गंदे मल से भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा सड़ना और गलना स्वभाव से सहित है ऐसा सदा चिंतन करना चाहिए ॥४४॥

रसरूहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥45॥

अन्वयार्थ- यह शरीर रस, रूधिर, मांस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जा से युक्त है। मूत्र, पीब और कीड़ों से भरा है, दुर्गंधित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील है-नश्वर है ॥४५॥

देहादो वदिरित्तो, कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा, इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥46॥

अन्वयार्थ- आत्मा इस शरीर से भिन्न है, कर्मरहित है, अनंत सुखों का भंडार है तथा श्रेष्ठ है इस प्रकार निरंतर भावना करनी चाहिए ॥४६॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य आसवा होंति।
पण पण चउ तिय भेदा, सम्मं परिकित्तिदा समए ॥47॥

अन्वयार्थ- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं। उक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव क्रम से पाँच, पाँच, चार और तीन भेदों से युक्त हैं। आगम में इनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है ॥४७॥

मिथ्यात्व तथा अविरति के पाँच भेद

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी, पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥48॥

अन्वयार्थ- एकांत, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान यह पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है तथा हिंसा आदि के भेद से पाँच प्रकार की अविरति नियम से होती है ॥४८॥

चार-कषाय और तीन-योग

कोहो माणो माया, लोहो वि य चउव्विहं कसायं खु।
मण वचिकाएण पुणो, जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥49॥

अन्वयार्थ- क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार प्रकार की कषाय है। तथा मन, वचन और काय के भेद से योग के तीन भेद हैं यह जानना चाहिए ॥४९॥

असुहेदरभेदेण दु, एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं।
आहारादी सण्णा, असुहमणं इदि विजाणेहि ॥50॥

अन्वयार्थ- मन वचन काय इन तीनों योगों में से प्रत्येक योग अशुभ और शुभ के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। आहार आदि संज्ञाओं का होना अशुभ मन है ऐसा जानो ॥५०॥

किण्हादि तिण्णि लेस्सा, करणजसोक्खेसु सिद्धपरिणामो।
ईसा विसादभावो, असुहमणं त्ति य जिणा वेंति ॥51॥

अन्वयार्थ- कृष्णादि तीन लेश्याएँ, इंद्रियजन्य सुखों में तीव्र लालसा, ईर्ष्या तथा विषादभाव अशुभ मन है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं ॥५१॥

रागो दोसो मोहो, हास्सादिणोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा, असुहमणो त्ति य जिणा वेंति ॥52॥

अन्वयार्थ- राग, द्वेष, मोह तथा हास्यादिक नोकषायरूप परिणाम चाहे स्थूल हों चाहे सूक्ष्म, अशुभ मन है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं ॥५२॥

भत्थित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥53॥

अन्वयार्थ- भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा अशुभ वचन है ऐसा जानो। तथा बंधन, छेदन और मारणरूप जो क्रिया है वह अशुभ काय है ॥५३॥

मोत्तूण असुहभावं, पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥54॥

अन्वयार्थ- पहले कहे हुए अशुभ भाव तथा अशुभ द्रव्य को व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणामों का होना शुभ मन है ऐसा जानो ॥५४॥

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा, सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा ॥55॥

अन्वयार्थ- जो वचन संसार का छेद करने में कारण है वह शुभ वचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। तथा जिनेन्द्रदेव आदि की पूजारूप जो चेष्टा- शरीर की प्रवृत्ति है वह शुभकाय है ॥५५॥

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुःखजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं, कम्मासवकारणं होदि ॥56॥

अन्वयार्थ- अनेक दोषरूपी तरंगों से युक्त तथा दुःखरूपी जलचर जीवों से व्याप्त संसाररूपी समुद्र में जीव का जो परिभ्रमण होता है वह कर्मास्रव के कारण होता है। अर्थात् कर्मास्रव के कारण ही जीव संसारसमुद्र में परिभ्रमण करता है ॥५६॥

कम्मासवेण जीवो, बूडदि संसारसागरे घोरे।
जं णाणवसं किरिया, मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥57॥

अन्वयार्थ- कर्मास्रव के कारण जीव संसाररूपी भयंकर समुद्र में डूब रहा है। जो क्रिया ज्ञानवश होती है वह परंपरा से मोक्ष का कारण होती है ॥५७॥

आसवहेदू जीवो, जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।
आसवकिरिया तम्हा, मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥58॥

अन्वयार्थ- आस्रव के कारण जीव संसाररूपी समुद्र में शीघ्र डूब जाता है इसलिए आस्रवरूप क्रिया मोक्ष का निमित्त नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥५८॥

पारंपज्जाएण दु, आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥59॥

अन्वयार्थ- परंपरा से भी आस्रवरूप क्रिया के द्वारा निर्वाण नहीं होता। आस्रव संसारगमन का ही कारण है। इसलिए निंदनीय है ऐसा जानो ॥५९॥

पुव्वुत्तासवभेदा, णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उहयासवणिम्मुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥60॥

अन्वयार्थ- पहले जो आस्रव के भेद कहे गये हैं वे निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, इसलिए आत्मा को दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित ही निरंतर विचारना चाहिए ॥६०॥

संवरानुप्रेक्षा

चलमलिनमगाढं च, वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥61॥

अन्वयार्थ- चल, मलिन और अगाढ़ दोष को छोड़कर सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटों के द्वारा मिथ्यात्वरूपी आस्रवद्वार का निरोध हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥६१॥

पंचमहव्वयमणसा, अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं, दाराणि कसायरहियपल्लगेहि ॥62॥

अन्वयार्थ- पंचमहाव्रतों से युक्त मन से अविरतिरूप आस्रव का निरोध नियम से हो जाता है और क्रोधादि कषायरूप आस्रवों के द्वार कषाय के अभावरूप फाटकों से रुक जाते हैं- बंद हो जाते हैं।

सुहजोगस्स पवित्ती, संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सद्धुवजोगेण संभवदि ॥63॥

अन्वयार्थ- शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभ योग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है ॥६३॥

सुद्धुवजोगेण पुणो, धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू, झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं ॥64॥

अन्वयार्थ- शुद्धोपयोग से जीव के धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान होते हैं, इसलिए ध्यान संवर का कारण है ऐसा निरंतर विचार करना चाहिए ॥६४॥

जीवस्स ण संवरणं, परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥65॥

अन्वयार्थ- परमार्थनय-निश्चयनय से जीव के संवर नहीं है क्योंकि वह शुद्ध भाव से सहित है। अतएव आत्मा को सदा संवरभाव से रहित विचारना चाहिए ॥६५॥

बंधपदेसग्गलणं, णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं, तेण दु णिज्जरणमिदि जाण ॥66॥

अन्वयार्थ- बंधे हुए कर्मों का गलना निर्जरा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्

ने कहा है। जिस कारण से संवर होता है उसी कारण से निर्जरा होती है ॥६६॥

सा पुण दुविहा णेया, सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया ॥67॥

अन्वयार्थ- फिर वह निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए- एक अपना उदयकाल आने पर कर्मों का स्वयं पककर झड़ जाना और दूसरी तप के द्वारा की जानेवाली। इनमें पहली निर्जरा तो चारों गतियों के जीवों की होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवों के होती है ॥६७॥

धर्मानुप्रेक्षा

एयारसदसभेयं, धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं, उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥68॥

अन्वयार्थ- उत्तम सुख से संपन्न जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियों का वह धर्म क्रम से ग्यारह और दश भेदों से युक्त है तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है ॥६८॥

गृहस्थ के ग्यारह धर्म

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥69॥

अन्वयार्थ- दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशविरत अर्थात् गृहस्थ के भेद हैं ॥६९॥

मुनिधर्म के दश भेद

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं, बम्हा इदि दसविहं होदि ॥70॥

अन्वयार्थ- उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये मुनिधर्म के दश भेद हैं ॥७०॥

उत्तम क्षमा का लक्षण

कोहुप्पत्तिस्स पुणो, बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहो, तस्स खमा होदि धम्मो त्ति ॥71॥

अन्वयार्थ- यदि क्रोध की उत्पत्ति का साक्षात् बहिरंग कारण हो फिर भी जो कुछ भी क्रोध नहीं करता उसके क्षमा धर्म होता है ॥

मार्दव धर्म का लक्षण

कुलरूवजादिबुद्धिसु, तपसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥72॥

अन्वयार्थ- जो मुनि कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत तथा शील के विषय में कुछ भी गर्व नहीं करता उसके मार्दव धर्म होता है ॥

आर्जव धर्म का लक्षण

मोत्तूण कुडिलभावं, णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइओ, तस्स दु संभवदि णियमेण ॥73॥

अन्वयार्थ- जो मुनि कुटिलभाव को छोड़कर निर्मल हृदय से आचरण करता है उसके नियम से तीसरा आर्जव धर्म होता है ॥

सत्यधर्म का लक्षण

परसंतावणकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मं हवे सच्चं ॥74॥

अन्वयार्थ- दूसरों को संताप करनेवाले वचन को छोड़कर जो भिक्षु स्वपरहितकारी वचन बोलता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है ॥७४॥

शौच धर्म का लक्षण

कंखाभावणिवित्तिं, किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्ठदि परममुणी, तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥75॥

अन्वयार्थ- जो उत्कृष्ट मुनि कांक्षा भाव से निवृत्ति कर वैराग्यभाव से रहता है उससे शौचधर्म होता है ॥७५॥

संयमधर्म का लक्षण

वदसमिदिपालणाए, दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो, संजमधम्मो हवे णियमा ॥76॥

अन्वयार्थ- मन वचन काय की प्रवृत्तिरूप दंड को त्यागकर तथा इंद्रियों को जीतकर जो व्रत और समितियों से पालनरूप प्रवृत्ति करता है उसके नियम से संयमधर्म होता है ॥७६॥

उत्तम तप का लक्षण

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ॥77॥

अन्वयार्थ- विषय और कषाय के विनिग्रहरूप भाव को करके जो

ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना करता है उसके नियम से तप होता है ॥७७॥

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥78॥

अन्वयार्थ- जो समस्त द्रव्यों के विषय में मोह का त्याग कर तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥७८॥

आकिंचन्य धर्म का लक्षण

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्स किंचण्हं ॥79॥

अन्वयार्थ- जो मुनि निःसंग-निष्परिग्रह होकर सुख और दुःख देने वाले अपने भावों का निग्रह करता हुआ निर्द्वंद्व रहता है अर्थात् किसी इष्ट-अनिष्ट के विकल्प में नहीं पड़ता उसके आकिंचन्य धर्म होता है ॥७९॥

ब्रह्मचर्य धर्म का लक्षण

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं, सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं ॥80॥

अन्वयार्थ- जो स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ उनमें खोटे भाव को छोड़ता है अर्थात् किसी प्रकार के विकार भाव को प्राप्त नहीं होता वह निश्चय से अत्यंत कठिन ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करने के लिए समर्थ होता है ॥८०॥

सावयधम्मं चत्ता, जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो णय वज्जदि मोक्खं, धम्मं इदि चिंतए णिच्चं ॥81॥

अन्वयार्थ- जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर मुनिधर्म धारण करता है वह मोक्ष को नहीं छोड़ता है अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है इस प्रकार निरंतर धर्म का चिंतन करना चाहिए ॥८१॥

णिच्छयणएण जीवो, सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए, सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं ॥82॥

अन्वयार्थ- निश्चयनय से जीव गृहस्थधर्म और मुनिधर्म से भिन्न है इसलिए दोनों धर्मों में मध्यस्थ भावना रखते हुए निरंतर शुद्ध आत्मा का चिंतन करना चाहिए ॥८२॥

बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप

उप्पज्जदि सण्णाणं, जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोहो, अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥83॥

अन्वयार्थ- जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिंता बोधि है, यह बोधि अत्यंत दुर्लभ है ॥८३॥

क्षायोपशमिक ज्ञान हेय

कम्मुदयजपज्जायां, हेयं खाओवसमियणाणं तु।
सगदव्वमुवादेयं, णिच्छयत्ति होदि सण्णाणं ॥84॥

अन्वयार्थ- कर्मोदय से होने वाली पर्याय होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है ॥८४॥

निश्चयनय में हेय उपादेय का विकल्प नहीं

मूलुत्तरपयदीओ, मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।
परदव्वं सगदव्वं, अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥85॥

अन्वयार्थ- मिथ्यात्व को आदि लेकर असंख्यात लोकप्रमाण जो कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ हैं वे परद्रव्य हैं और आत्मा स्वद्रव्य है ऐसा निश्चयनय से कहा जाता है ॥८५॥

एवं जायदि णाणं, हेयमुवादेय णिच्चये णत्थि।
चिंतिज्जइ मुणि बोहिं, संसारविरमणट्ठे य ॥86॥

अन्वयार्थ- इस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्य का चिंतन करने से हेय और उपादेय का ज्ञान हो जाता है अर्थात् परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है। निश्चयनय में हेय और उपादेय का विकल्प नहीं है। मुनि को संसार का विराम करने के लिए बोधि का विचार करना चाहिए ॥८६॥

बारह अनुप्रेक्षायें ही प्रत्याख्यान तथा प्रतिक्रमण आदि

बारस अणुवेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिकमणं।
आलोयणं समाहिं, तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥87॥

अन्वयार्थ- ये बारह अनुप्रेक्षाएँ ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं इसलिए इन अनुप्रेक्षाओं की निरंतर भावना करनी चाहिए ॥८७॥

रत्तिदिवं पडिकमणं, पच्चक्खाणं समाहि सामइयं।
आलोयणं पकुव्वदि, जदि विज्जदि अप्पणो सत्तिं ॥88॥

अन्वयार्थ- यदि अपनी शक्ति है तो रातदिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि और आलोचना करनी चाहिए ॥८८॥

बारह अनुप्रेक्षाओं का फल

मोक्खगया जे पुरिसा, अणाइकालेण बार अणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं, पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥89॥

अन्वयार्थ- जो पुरुष अनादिकाल से बारह अनुप्रेक्षाओं को अच्छी तरह चिंतन कर मोक्ष गये हैं मैं उन्हें बार बार प्रणाम करता हूँ॥८९॥

किं पलविएण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहदि जेवि भविया, तं जाणह तस्स माहप्पं ॥90॥

अन्वयार्थ- बहुत कहने से क्या लाभ है? भूतकाल में जो श्रेष्ठ पुरूष सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यत् काल में सिद्ध होवेंगे उसे अनुप्रेक्षा का महत्व जानो ॥९०॥

समारोप

इदि णिच्छयववहारं, जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो, सो पावइ परमणिव्वाणं ॥91॥

अन्वयार्थ- इस प्रकार कुंदकुंद मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का आलंबन लेकर जो कहा है, शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है ॥९१॥

॥ इदि बारसणुपेक्खा ॥

